

विज्ञान और सामाजिक अध्ययन को अनुसंधान विधि से सीखना/सिखाना (भाग - 1)

□ रोहित धनकर

प्राकृतिक और सामाजिक अध्ययन/अध्यापन में बहुत-सी पद्धतियों के लिए गुंजाइश है। उनमें रोहित धनकर अनुसंधान पद्धति को अधिक उपयुक्त और कारगर पाते हैं। निश्चय ही, यह पद्धति शिक्षक से एक स्पष्ट समझ, बेहतर तैयारी और कुछ बेहद जरूरी एहतियातों की मांग करती है। यह लेख प्राथमिक शिक्षा के संदर्भ में है। इस लेख के प्रथम भाग में इस पद्धति के लिए आवश्यक नजरिये का खुलासा है। दूसरे भाग में इसका व्यावहारिक पक्ष होगा।

1. प्रस्तावना

विज्ञान और सामाजिक विज्ञान का अनुसंधान विधि से अध्ययन या कह सकते हैं, “बच्चों द्वारा विज्ञान और सामाजिक विज्ञानों में अनुसंधान”। प्राथमिक स्तर पर समझकर सीखना और अनुसंधान द्वारा सीखना आगे चल कर अपने आप सीखने की क्षमताओं के विकास के लिए एक तार्किक आवश्यकता लगती है। तार्किक आवश्यकता माने : यदि व्यक्तित्व और सीखने में स्वायत्तता का विकास हमारे उद्देश्य बन जायें तो सीखने की विधि के रूप में अनुसंधान द्वारा एवं समझ कर सीखना लाजिमी हो जाता है। ऐसा लगता है। हो सकता है यह ठीक ना हो। पर यदि हम यह स्वीकार कर चलते हैं तो क्या करें ?

बच्चों के साथ, विशेष कर प्राथमिक स्तर पर इस विधि से काम करने में भारी कठिनाइयां आती हैं। यदि हम अनुसंधान विधि का अर्थ चयनित दिशा में सुविचारित क्रियाकलापों से सीखने की कड़ियों द्वारा बढ़ाना मानते हैं तो। यह बात कहना इसलिए आवश्यक है कि अनुसंधान विधि का एक अर्थ बच्चों द्वारा कुछ भी, किसी भी तरह से किया जाना भी लिया जाता है। लेकिन हम लोग एक सुविचारित एवं योजनाबद्ध तरीके से बच्चे को इस दिशा में बढ़ाना चाहते हैं।

बच्चों के स्वतः स्फूर्त एवं उनकी तात्कालिक रुचि द्वारा निर्देशित क्रियाकलापों की शृंखला को ही अनुसंधान विधि मान लेने में कुछ गंभीर कठिनाइयां हैं। एक, अनुसंधान एक गंभीर बौद्धिक प्रक्रिया है जो लगातार दिशा विशेष में अपनी समझ बढ़ाने के प्रयास का नाम है। इस में बिन्दु विशेष पर टिके रहना, संबंधित तथ्यों की जानकारियों एवं अवलोकनों का अपने वैचारिक ढांचों में समायोजन करते रहना, विचारों/सिद्धांतों/ जानकारियों आदि की व्यापक तार्किक निष्पत्तियां देखते रहना, आदि आदि बहुत कुछ समाहित होता है। हम इन चीजों को कितने भी बाल सुलभ सरलीकृत रूप में देखें, स्वतः स्फूर्त गतिविधियां और क्रियाकलाप

अपने आप ही समझ के विकास की शृंखला में नहीं जुड़ पाती हैं। दो, स्वतः स्फूर्त गतिविधियों से क्या और कितना सीखना हो पा रहा है इसका अंदाज लगाना कठिन है। तीन, इस विचार का बच्चों के हितों के विरुद्ध बड़े स्तर पर दुरुपयोग संभव है। क्योंकि शिक्षक सदा ही कह सकता है कि उसे कुछ करने की जरूरत नहीं है, बच्चे स्वतः स्फूर्त क्रिया कलापों में संलग्न हैं। अतः सीखने के संदर्भ में उसकी कुछ जिम्मेदारी नहीं है।

दूसरी तरफ यदि हम बच्चों को किसी अध्ययन बिन्दु विशेष (उदाहरणार्थ - फसलें) पर टिकके सीखने समझने के लिए काम करने में लगाना चाहते हैं तो उसकी भी समस्या है। अनुसंधान द्वारा सीखना कम से कम निम्न चीजों की मांग करता है :

1. बच्चे की कुछ आरंभिक जानकारी जिसके आधार पर कुछ और जानने की उत्सुकता या प्रश्न पैदा किये जा सकें।
2. और जानकारी ग्रहण करने में रुचि बनाये रखना।
3. उत्तर प्राप्ति के लिए अवलोकन करना या सूचनाओं का विश्लेषण करना।
4. अपने नतीजों को व्यवस्थित करके लिखते जाना।
5. नतीजों पर विचार करना, उनको अन्य प्रश्नों व ज्ञान से जोड़कर देखना।
6. एक ही बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करके रखना।
7. यह समझ पाना कि कब बिन्दु विशेष से हटकर इस के व्यापक संबंधों को देखना है और कब लौट कर वापस आना है।

ये सब कर पाना काफी जटिल मानसिक प्रक्रियाओं की मांग करता है। पर बच्चे तो शायद स्वभाव एवं परिपक्वता की दृष्टि से भी इस के लिए तैयार नहीं होते और ज्ञान एवं दक्षताओं संबंधी तैयारी भी उनकी नहीं होती। ऐसे में अनुसंधान विधि को जिस नजरिये से हम देख रहे हैं वह कर पाना संभव कैसे होगा ?

संक्षेप में और साफ बात करें तो हमें इस के लिए बच्चों को तैयार करना होगा और यह आसान काम नहीं है। दूसरी बात यह है कि बच्चों को तैयार करने में हम उनके सोचने-विचारने के तरीकों एवं रुचियों-अरुचियों को प्रभावित कर रहे होंगे। यह बच्चों की मानसिकता परिवर्तन का सवाल है। बहुत से लोग इस पर यह आरोप लगा सकते हैं कि एक तरफ तो हम स्वायत्त निर्णय की बात करते हैं और दूसरी तरफ बच्चों को अपने आस-पास की दुनियां को समझने के एक विशेष नजरिये को अपनाने की तरफ धकेल रहे हैं। एक तरह से उनके नजरिये को नियंत्रित करने की फिराक में हैं। मुझे लगता है कि इस आलोचना से हमें चिंतित नहीं होना चाहिये। क्योंकि, एक, हम विवेक-सम्मत स्वायत्तता की बात करते हैं। अतः हमारे लिए स्वायत्तता का अर्थ कुछ भी मनमर्जी का करते रहना न होकर जो कुछ किया जाये उसके कारणों पर विचार करने के बाद स्वीकारना एवं करना है। अतः जीवन एवं जगत के प्रति एक नजरिये का हमने आरंभ से ही चुनाव कर लिया है और इस चुनाव को उचित ठहरा सकते हैं। अतः यह तो हमारी शिक्षा में निहित है ही। दूसरे, हम यह काम काफी खुले तरीके से एवं व्यापक दृष्टि-कोण के साथ करेंगे। व्यापक दृष्टिकोण में विवेक-सम्मत स्वायत्तता के नजरिये के स्वीकारने/अस्वीकारने के कारणों पर भी यथा समय जायेंगे। तीसरा, बच्चे की बढ़ती हुई मानसिक क्षमताओं में विकास एवं चिंतन की दिशा तो कोई ना कोई होगी ही, वह दिशा विवेक-सम्मत स्वायत्तता की नहीं तो कोई और होगी।

इस से बचकर मानसिक विकास संभव ही नहीं है। तथा चौथा, विवेक-सम्मत स्वयत्तता की दिशा अन्य सभी दिशाओं से (उच्छ्रृंखलता सहित) कम बाध्यकारी एवं आत्मनिर्णय को पोषित करने वाली है। अतः यह सर्व-श्रेष्ठ रास्ता (हमारी समझ के मुताबिक) है। अतः हमें विचारों के रूढ़ प्रस्थापन और अवांछनीय अनुबंधन के आरोपों से घबराने की जरूरत नहीं है। अर्थात् हम पूर्ण रूप से आश्वस्त होकर पर्यावरण अध्ययन को इस दिशा में ले जा सकते हैं।

2. आखिर हम करना क्या चाहते हैं ?

अब समस्या हम जो करना चाहते हैं, उस के स्पष्ट निरूपण की तथा उसके अच्छे तरीके ढूढ़ने की है।

संक्षेप में कहें तो शायद हम तीन चीजें करना चाहते हैं।

एक, विश्व को समझने एवं उसके साथ अंतःक्रिया के लिए एक नजरिया विकसित करना चाहते हैं। इस नजरिये को समालोचनात्मक विश्लेषण की दृष्टि कहा जा सकता है। अर्थात् विचार एवं कर्म के स्तर पर जो स्वीकार करना हो, उसे विवेक की कसौटी पर कस कर/ठोक बजा कर स्वीकार करने का नजरिया। किसी भी चीज को, चाहे वह कितनी भी प्रिय एवं सम्माननीय क्यों न हो, विश्लेषण के दायरे से बाहर न छोड़ने का नजरिया।

इसी नजरिये के विकास में मूल्यों का विकास भी समाहित है। क्योंकि विज्ञान और सामाजिक अध्ययन हमारे ज्ञान और कर्म के लगभग संपूर्ण परास को समाहित करते हैं तथा इसमें समाज का अध्ययन शामिल है; अतः शिक्षार्थी के लिए अपना एक विवेक संगत नीतिशास्त्र विकसित करने के भरपूर अवसर इसमें उपलब्ध हैं। वास्तव में मूल्यों के विकास का सर्वाधिक संगत तरीका प्राकृतिक एवं मानवीय जगत का अध्ययन ही है।

ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया सामाजिक ही होती है। इस का अर्थ यह है कि हमारा सारा ज्ञान, सारी समझ सामाजिक रिश्तों, अन्तःक्रिया एवं प्रक्रियाओं के माध्यम से ही बनती है। ज्ञान व समझ के भव्य भवन की ईंटे अवधारणायें होती हैं और मानवीय ज्ञान के निर्माण में काम आने वाली लगभग सारी ही अवधारणायें भाषा पर निर्भर करती हैं।

दो, हम बच्चों में इस नजरिये से दुनिया को समझने की सामर्थ्य विकसित करना चाहते हैं। अर्थात् उसे अपने लिए उन बौद्धिक और वैचारिक उपकरणों के विकास में मदद करना चाहते हैं जिनसे वह इस दुनिया को समझ सके, इस का वर्णन एवं व्याख्या कर सके। तथा तीन, हम बच्चे को उसके परिवेश के बारे में आवश्यक ज्ञान और जानकारी देना चाहते हैं। यह ज्ञान और जानकारी उसे आगे सीखने के काम में मददगार भी होनी चाहिए और जीवन की प्रक्रिया में उपयोगी भी होनी चाहिये।

इन तीनों चीजों में से दूसरी चीज कुछ विस्तार से विचार की मांग करती है। क्या हम उन बौद्धिक और वैचारिक उपकरणों की कोई कामचलाऊ ही सही, सूची बना सकते हैं जो बच्चों को (और बड़ों को भी) दुनिया को समझने में मददगार हो। मुझे लगता है कि इस प्रकार की एक कामचलाऊ सूची में निम्न छः चीजें रखी जा सकती हैं :

1. मानसिक एवं शारीरिक अनुभूति की क्षमता। इस का एक आधार तो प्रकृतिप्रदत्त शारीरिक उपकरणों एवं मूलभूत मानसिक क्षमताओं और प्रवृत्तियों में होता है और दूसरा आधार मानसिक रूप से सजग एवं सचेत रहना है। इस दूसरे आधार को विकसित करने की जरूरत होगी।

2. अनुभूति शृंखला के चयनित हिस्से पर ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता । मानसिक रूप से सजग एवं सचेत रहने वाले व्यक्ति को अनुभूतियां तो एक न रुकने वाली शृंखला के रूप में मिलती रहती है । उनका कुछ भी करने के लिए उस शृंखला के किसी विशेष हिस्से पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है । आगे चलकर यह ध्यान केन्द्रित करना तात्कालिक रूप से प्राप्त न हो रही अनुभूतियों के लिए अवसर बनाने को भी समाहित कर लेता है । इसी का एक रूप अवलोकन करने की क्षमता है, जो कि पर्यावरण अध्ययन में विशेष महत्व की चीज है ।

3. विश्लेषण की क्षमता । विश्लेषण का तथाकथित वास्तविक अर्थ कुछ भी माना जाता हो, यहां इससे आशय है : जो हो रहा है उसकी व्याख्या करने के लिए अनुभूति या विचार को नजदीक से देख कर उसको सूक्ष्म हिस्सों में तोड़ना एवं उन हिस्सों के एक दूसरे पर आपसी प्रभाव एवं रिश्तों को पहचानना । यह बहुत सारी मानसिक क्षमताओं के आधार पर विकसित होती है । यहां इन सभी क्षमताओं की अलग से सूची बनाना आवश्यक नहीं लगता क्योंकि उनका विकास पृथक-पृथक नहीं होता बल्कि विश्लेषण के प्रयत्नों में ही होता है ।

4. संश्लेषण की क्षमता । संपूर्ण विश्व हमें अनुभूति शृंखलाओं के रूप में ही प्राप्त होता है । लेकिन यदि समझने का अर्थ इस विश्व का व्यवस्थित वर्णन करना और जो कुछ है या हो रहा है उसके कारणों की व्याख्या करना है तो फिर हम इस संपूर्णता को एक साथ नहीं समझ सकते । यह हमारी सीमा है । अतः समझने के लिए हमें विश्व के किसी भाग विशेष पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है एवं विश्लेषण द्वारा उस भाग विशेष को समझना पड़ता है । पर यह भाग विशेष को समझना जीवन में उपयोगी एवं सार्थक तभी हो सकता है जब इस भाग विशेष के बारे में अर्जित ज्ञान को हम बाकी विश्व से मिलाकर देखें । बाकी विश्व का इस पर प्रभाव समझें । अर्थात् विशिष्ट स्थितियों के बारे में अर्जित समझ एवं ज्ञान को मिला कर व्यापक एवं समग्र तस्वीर बनाने का प्रयत्न करें । यहां इसी प्रक्रिया को संश्लेषण कहा गया है । अर्थात् विभिन्न अध्ययन बिन्दुओं और यहां तक की विभिन्न विषयों में प्राप्त ज्ञान को मिला कर व्यापक और सुसंगत परिप्रेक्ष्य का निर्माण कर पाने की क्षमता का विकास । विश्लेषण की तरह संश्लेषण में भी विभिन्न मानसिक क्षमतायें (विशेष रूप से संबंध बोध एवं विरोधाभास देख पाना ।) काम में आती है । पर उन का विकास भी अकेले में नहीं, संश्लेषण

एवं विश्लेषण की प्रक्रियाओं में ही होगा । अतः वर्तमान उद्देश्य के लिए उन की पृथक सूची शायद आवश्यक नहीं है ।

5. ज्ञान का यथा-आवश्यक आधार तैयार करना । विश्व से अतः क्रिया के कारण होने वाले अनुभव को व्यवस्थित करने में हमें उपरोक्त 1 से 4 तक की क्षमताओं का उपयोग करना पड़ता है । पर इन क्षमताओं के उपयोग एवं ज्ञान के भण्डार में परस्पर निर्भरता का रिश्ता है । एक तरफ तो अनुभव, अवलोकन, विश्लेषण एवं संश्लेषण पूर्व अर्जित ज्ञान की आधार भूमि पर ही सक्रिय होकर काम कर सकते हैं । यह कल्पना करना कि बिना किसी पूर्व ज्ञान के अवलोकन, संश्लेषण एवं विश्लेषण संभव है, असंगत होगा ।

इसी प्रकार किसी तरह के अवलोकन, विश्लेषण या संश्लेषण की प्रक्रिया से गुजरे बिना ज्ञान का कोई छोटा-मोटा भी भंडार बन सकता है यह मानना भी असंगत होगा। अवलोकन, विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा बनाई गई अवधारणाओं, सामान्यकृत सिद्धांतों एवं जुटाये गये तथ्यों की समग्रता को हम अपने ज्ञान का भण्डार कह सकते हैं । यहां ज्ञान, सूचना एवं तथ्यों सभी की समग्रता को ज्ञान का भण्डार कह रहे हैं । यही अवधारणायें, सामान्यकृत सिद्धांत (नियम) और तथ्य नये अनुभवों को विश्लेषित/संश्लेषित करके संजोने में हमारी मदद करते हैं । अतः अवलोकन, विश्लेषण एवं संश्लेषण की कोई शृंखला आरंभ करते समय कोई ना कोई ज्ञान का

आधार आवश्यक होता है । पर सीखने की प्रत्येक घटना (सीखने की घटनायें अवलोकन, विश्लेषण और संश्लेषण विशेष रूप से अंतिम दो, का आवश्यक रूप से उपयोग करती हैं) के अंत में हमारे पूर्वज्ञान के भण्डार में गुणात्मक या मात्रात्मक परिवर्तन आवश्यक रूप से होता है । स्वायत्त शिक्षार्थी बनने का यही अर्थ है कि हम ऐसे अनन्त चक्र का आरंभ कर दें जहां सतत् अनुभव, चिंतन (विश्लेषण और संश्लेषण), ज्ञान निर्माण एवं पुनः अनुभव या अनुभवों का अधिक गहराई में जाकर विश्लेषण चलता रहे । यही अनन्त चक्र बच्चे के मन में आरंभ कर देना हमारा काम है ।

तो इसके लिए आवश्यक आधारों में से एक है ज्ञान, जानकारियों एवं तथ्यों का भण्डार एवं उस भण्डार का लगातार पुष्ट होते रहना ।

6. संप्रेषण की क्षमता । उपरोक्त पांच चीजें ज्ञान निर्माण की

आंतरिक प्रक्रिया के आधार हैं। पर विश्व के वर्णन एवं समझ निर्माण की यह संपूर्ण प्रक्रिया केवल मात्र आंतरिक ही नहीं है बल्कि इसका ठीक उलटा अधिक सही है। बिना बहिर्मुखी हुए, बिना दूसरों से संवाद स्थापित किये कोई भी समझाने, वर्णन करने एवं व्याख्या करने की प्रक्रिया शायद ही आरंभ हो। अभी तक अघोषित रूप से हम इस सिद्धांत को मानते रहे हैं। जब बच्चे को हम दुनियां के वर्णन एवं व्याख्या के बौद्धिक उपकरण विकसित करने में मदद करने की बात करते हैं तो निश्चित रूप से कम से कम दो व्यक्ति (शिक्षक और शिक्षार्थी) तो उसमें हैं ही। अतः यह एक सामाजिक प्रक्रिया है। साथ ही हम बच्चे के इस राह पर लगभग अंगुली पकड़कर (आरंभ में) चलना सिखाने की बात कर रहे हैं। अतः इस प्रक्रिया का तो प्रवर्तन (आरंभ) ही सामाजिक चिंता द्वारा और सामाजिक कर्म है। अतः ऊपर की विवेचना में भी समझ एवं ज्ञान निर्माण की इस प्रक्रिया के पूर्णतया व्यक्ति-निष्ठ होने की बात नहीं है। फिर भी अभी तक हमने ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया में सामाजिकता की बात को व्यवस्थित रूप से उल्लेख नहीं किया है, अब इसकी जरूरत आ गई है।

ज्ञान निर्माण की प्रक्रिया सामाजिक ही होती है। इस का अर्थ यह है कि हमारा सारा ज्ञान, सारी समझ सामाजिक रिश्तों, अन्तःक्रिया एवं प्रक्रियाओं के माध्यम से ही बनती है। ज्ञान व समझ के भव्य भवन की ईंट अवधारणायें होती हैं और मानवीय ज्ञान के निर्माण में काम आने वाली लगभग सारी ही अवधारणायें भाषा पर निर्भर करती हैं। एक तो भाषा ही अपने आप में सामाजिक परिस्थितियों के बिना विकसित नहीं हो सकती। दूसरे भाषा के होने पर भी अवधारणायें एवं उनके सुव्यवस्थित ढांचे भी इन्सानों में साथ रहने के फलस्वरूप एवं साथ रहने की प्रक्रिया में ही बन सकते हैं। तथा ज्ञान की सत्यता एवं उसकी गुणवत्ता के विचार तथा उनकी जांच, ये सब भी सामाजिक परिस्थितियों में ही सार्थक होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि बच्चा अकेला न तो सीखने की प्रक्रियायें अपने लिए आरंभ कर सकता है, न उनको बनाये रख सकता है, तथा न ही उन प्रक्रियाओं के सही गलत होने की जांच सकता है। अतः यह सारी प्रक्रिया अन्य लोगों के साथ मिलकर ही चल सकती है, इसी में इसका उपयोग एवं सार्थकता भी है।

ऐसी स्थिति में संप्रेषण की क्षमता विशेष रूप से महत्वपूर्ण हो जाती है। यहां संप्रेषण की क्षमता को मैं लाजिमी तौर पर दुतरफा मान रहा हूँ। अपने विचार, भावनायें, इरादे आदि दूसरों को समझा पाना एवं दूसरों के विचार, भावनायें, इरादे आदि सफलतापूर्वक समझ पाना। इसके बिना हमारा ज्ञान सामाजिक जीवन में उपयोगी होने के स्तर तक कभी नहीं पहुंच पायेगा। अतः उन बौद्धिक उपकरणों को भी इसमें शामिल करना होगा जिनकी बच्चे को दुनिया के वर्णन एवं व्याख्या के लिए आवश्यकता होगी।

यहां दो बातों पर थोड़ा ध्यान देना आवश्यक लगता है। एक यह कि संप्रेषण की क्षमता की बात करना भाषा विकास के समानार्थक नहीं है। भाषा विकास या भाषा का उद्भव संप्रेषण से कहीं बड़ी एवं गहरी तथा व्यापक प्रभावों वाली चीज है। यहां संप्रेषण (मानवीय संप्रेषण) भाषा विकास के दायरे में आने वाली एक चीज है। भाषा का दायरा इससे कहीं बड़ा है। कहीं अधिक आधारभूत वस्तु है। बहुत लोगों को यह बात अटपटी लग सकती है। वे सांकेतिक-संप्रेषण, हावभाव, यहां तक की कला एवं नृत्य में विभिन्न रूपों को भी भाषा से स्वतंत्र मानते हैं। और संप्रेषण के लिए तो ये सब भी उपयोगी होते हैं। अतः भाषा का दायरा संप्रेषण के दायरे के भीतर लगता है। उनके इस तर्क में एक भारी भूल है। भाषा के इतर होने वाले संप्रेषण या तो मानवीय संप्रेषणों से नीचे जानवरों के स्तर पर होते हैं, या फिर भाषा विकास के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न हुए हैं। जो मानवीय संप्रेषणों से नीचे के होते हैं वे ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया में तभी उपयोगी होते हैं जब हम उन का विश्लेषण करें। विश्लेषण भाषा के बिना संभव ही नहीं है। अतः हर स्थिति में भाषा अधिक मूलभूत एवं व्यापक वस्तु के रूप में सामने आती है, कम से कम समझ और ज्ञान के निर्माण के संदर्भों में। दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि यहां संप्रेषण की क्षमताओं से तात्पर्य थोड़ा सीमित है। भाषा के संपूर्ण परास का विकास तो संपूर्ण शिक्षाक्रम को ही समेट लेता है। वह तो शिक्षा में हो ही रहा है। शिक्षा के व्यापक उद्देश्यों में से एक है ही। यहां संप्रेषण से आशय उन विभिन्न क्षमताओं और तकनीकों में अभ्यास से है जो हमारे द्वारा बनाई गई समझ को दूसरों के साथ बांट सकें, उन की राय ले सकें, समालोचना कर सकें। अर्थात् अपनी बात दूसरों के सामने रखना एवं उनकी बात समझना। यह बोल कर किया जा सकता है, लिख कर किया जा सकता है। लिख कर करने में सूची बनाना, चार्ट/नक्शे बनाना, विभिन्न प्रकार के ग्राफ बनाना आदि सभी समाहित हैं। अतः यहां संप्रेषण से आशय विशेष रूप से ज्ञान एवं सूचना के आदान-प्रदान एवं समालोचना के लिए प्रयुक्त तकनीकों से अधिक है। इस शब्द के व्यापक अर्थ तो संपूर्ण शिक्षाक्रम में निहित हैं ही।

अब यदि यह नजरिया स्वीकार करें तो हमारे पास दो सूचियां उपलब्ध हैं। पहली सूची (प्रथम पृष्ठ) उन मूल क्षमताओं और रुझानों की जो अपने आप एवं समझ कर सीखने के लिए आवश्यक शर्तें हैं तथा दूसरी सूची उन उद्देश्यों की जो विज्ञान एवं सामाजिक विज्ञानों के शिक्षण के व्यापक उद्देश्य हैं। अतः हमारे शिक्षण के कार्यक्रम में इन दोनों सूचियों में उल्लेखित क्षमताओं/रुझानों/दक्षताओं को विकसित करने वाले क्रिया कलाप होने चाहियें। यहां महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि कौन से क्रिया कलाप कैसे करें तो इन शर्तों को पूरा कर पायेंगे? इस प्रश्न का उत्तर सोदाहरण ही दिया जा सकता है। अतः एक या एक से अधिक इस प्रकार के अध्ययन-कार्यक्रमों की आवश्यकता है जो उपरोक्त शर्तें पूरी करे। इस लेख के दूसरे भाग में इसी पर विचार किया जायेगा। ♦